न्यायिक सक्रियता, कब समस्या? कब समाधान?

न्याय और व्यवस्था एक दूसरे के पूरक होते हैं। कुछ विद्वानों की राय में व्यवस्था न्याय की पूरक होती है अर्थात न्याय समाज की आवश्यकता है और व्यवस्था आवश्यकता की पूर्ति। मैं इस परिभाषा से भी सहमत होते हुए न्याय और व्यवस्था को एक दूसरे की पूरक मानना अधिक अच्छा मानता हूँ।

तानाशाही में ''न्याय और व्यवस्था'' दोनों के उपर एक अन्तिम नियंत्रक शक्ति होती है, जो निर्णायक होती है, जो व्यक्ति के रुप में भी हो सकती है और गुप के रुप में भी। किन्तु लोकतंत्र में ऐसी कोई अन्तिम शक्ति नहीं होती। लोकतंत्र में अन्तिम निर्णायक तो समाज ही होता है जो एक संविधान बनाकर राज्य अथवा व्यवस्था को संविधान की सीमाओं में रहते हुए व्यक्ति और समाज की सुरक्षा और न्याय का दायित्व सौंपता है। सुरक्षा और न्याय राज्य के दायित्व होते हैं तथा अन्य कल्याणकारी कार्य उसके कर्तव्य। ये कर्तव्य राज्य के लिये स्वैच्छिक होते हैं जबकि दायित्व बाध्यकारी। लोकतंत्र में राज्य से उपर कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह निर्णायक आदेश दाता नहीं होता, इसलिए संविधान के अन्तर्गत बनने वाली व्यवस्था का स्वरुप ऐसा होता है कि न्याय तथा व्यवस्था का संतुलन बना रहे। इसी संतुलन के अंतर्गत विधायिका न्याय को परिभाषित करती है, न्यायपालिका उस परिभाषा के अनुसार न्याय घोषित करती है तथा कार्यपालिका न्यायालय द्वारा घोषित न्याय को कार्यान्वित करती है। ये तीनों ही ईकाइयॉ अर्थात न्यायपालिका विधायिका तथा कार्यपालिका का संवैधानिक स्वरुप ऐसा होता है कि तीनों ही अपनी–अपनी सीमाओं में रहकर पूरी तरह एक दूसरे के पूरक भी होते हैं तथा नियंत्रक भी। तीनों ही न्याय और सुरक्षा के निमित्त किये जा रहे किसी इकाई के कार्य में सहायक भी होते हैं तथा तीनों में से कोई एक इकाई सीमाओं से अलग जाने लगे तो शेष दो ईकाइयॉ उस पर नियंत्रण भी करती हैं।न्यायपालिका का न्याय विधायिका द्वारा दी गई परिभाषा तक सीमित होता है जो **justice according to law** है। इसी तरह विधायिका भी न्याय को परिभाषित करने तक सीमित होती हैं। जिसे **law according to justice** कहते हैं। इस तरह न तो विधायिका किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह को न्याय दे सकती है न ही न्यायपालिका । न्याय देने का काम तो सिर्फ कार्यपालिका तक सीमित होता है। इतना स्पष्ट कर दें कि व्यवस्था अथवा शासन व्यवस्था में न्यायपालिका,विधायिका तथा कार्यपालिका का संयुक्त स्वरुप होता है जबकि राज्य अथवा राज्य व्यवस्था में न्यायपालिका शामिल न होकर सिर्फ विधायिका तथा कार्यपालिका ही शामिल होते हैं क्योंकि न्यायपालिका कानून के अनुसार कार्य करने तक सीमित होते हुए भी व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की संरक्षक होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि शासन व्यवस्था तथा राज्य व्यवस्था अलग–अलग होते है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य व्यवस्था मिलकर व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन करने लगें या ऐसे उल्लंघन के लिये संविधान संशोधन या कानून बनाने लगें तब न्यायपालिका अपने विशेष अधिकार से ऐसे संशोधन या कानून को संविधान के मौलिक स्वरुप उल्लंघन मानकर संविधान विरोधी घोषित कर सकती है।पूरे भारत में व्यक्ति को न्यायपालिका के माध्यम से न्याय दिलाने के प्रयास का एक फैशन सा चल पड़ा है। अनेक सामाजिक संस्थाऍ सिर्फ इसी काम में व्यस्त रहती है। जनहित याचिका के नाम पर इस प्रयास में और भी वृद्धि हुई है। प्रारंभ में तो लोगों को बहुत आनन्द आया, क्योकि उन्हें न्यायालय से सीधा न्याय मिलने लगा। अनेक कार्य, जो व्यवस्था सुनने के लिये तैयार नहीं थी,वे आनन फानन में सम्पन्न हो गये। किन्तु धीरे–धीरे दुष्परिणाम भी आने ही थे।

मोटे तौर पर व्यक्ति के तीन प्रकार के अधिकार होते हैं–

(1)प्राकृतिक (2)संवैधानिक (3)सामाजिक।

प्राकृतिक अधिकारों की पूर्ति करना समाज का दायित्व होता है। इन अधिकारों की पूर्ति का दायित्व समाज, व्यवस्था को देता है। इस तरह यह दायित्व व्यवस्था का हो जाता है। संवैधानिक अधिकारों की पूर्ति व्यवस्था का स्वैच्छिक कर्तव्य होता है। इन अधिकारों की पूर्ति के लिये व्यवस्था वाध्य नहीं है। संवैधानिक अधिकारों की पूर्ति व्यवस्था राज्य को सौंपती है। संवैधानिक अधिकारों की पूर्ति व्यवस्था का कर्तव्य,किन्तु राज्य का दायित्व होता है। कानूनी अधिकारों की पूर्ति राज्य का स्वैच्छिक कर्तव्य होता है।सामाजिक अधिकारों की पूर्ति समाज का कर्तव्य है। प्राकृतिक अधिकारों को ही मूल अधिकार कहते हैं। मूल अधिकारों की पूर्ति व्यवस्था का दायित्व है। जिसमें समाज सामान्यतया सहायक होता है। सामाजिक अधिकारों की पूर्ति में राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होता है। राज्य सामाजिक कामों में स्वैच्छिक सहायता मात्र कर सकता है।

लोकतंत्र में न्यायपालिका,विधायिका तथा कार्यपालिका एक सीमा तक स्वतंत्र तथा सीमोल्लंघन की स्थिति में एक दूसरे के नियंत्रक होते हैं। तीनो की सीमाऍ संविधान तय करता है जो समाज द्वारा नियंत्रित होता है। न्यायपालिका, विधायिका तथा कार्यपालिका के बीच संतुलन अनिवार्य है। स्वतंत्रता के तत्काल बाद संविधान निर्माताओं को ऐसे संतुलन का विश्वास भी था। इसीलिये संविधान निर्माताओं ने तीनों में से किसी को भी अकेले निर्णायक की भूमिका नहीं सौंपी। किन्तु संविधान निर्माताओं की एक छोटी सी भूल ने इस संतुलन को बिगाड़ कर रख दिया। यह भूल यह थी कि संविधान संशोधन के असीम अधिकार भी संसद को ही दे दिये गये। पण्डित नेहरु तानाशाही प्रकृति के थे और ड़ा0 भीमराव अम्बेडकर पद लोलुप, चालाक। दोनों ने एक जुट होकर इस संतुलन को बिगाड़ना शुरु किया। सन् पचास से संविधान लागू हुआ। संसद ने एक कानून बनाया। उच्चतम न्यायालय ने उस कानून को असंवैधानिक घोषित कर दिया। संसद ने संविधान संशोधन करके उक्त कानून को वैध घोषित कर दिया तो न्यायालय संविधान संशोधन की वैधता पर विचार शुरु न कर दे,इसलिये संसद ने पुनः संविधान संशोधन करके ऐसे मामलों को न्यायिक समीक्षा से बाहर कर दिया तथा उन कानूनों को उस तारीख से वैध कर दिया जिस तारीख को ये लागू हुए थे। यह पूरा का पूरा काम संविधान लागू होने से एक वर्ष के भीतर ही पूरा हो गया। इस तीव्र गति से यह स्पष्ट होता है कि हमारी विधायिका को अपनी सर्वोच्चता प्रमाणित करने की कितनी जल्दी थी। उसके बाद तो विधायिका को लगातार ऐसे कानून नवीं अनुसुची में डालकर न्यायपालिका को निरुपाय करने की आदत सी लग गई। सत्तावन वर्षों में विधायिका ने करीब पौने तीस सौं कानूनों को न्यायिक समीक्षा से बाहर कर दिया। न्यायपालिका तथा राज्य के बीच का संतुलन राज्य के पक्ष में एक पक्षीय रुप से झुका दिया गया।

उसके बाद विधायिका एकपक्षीय रुप से न्यायपालिका के उपर हावी रही । संसद सर्वोच्च की अवधारणा आम हो गई। संसद एक तरह से तानाशाह हो गई। मनमाने संविधान संशोधन किये गये तथा उन्हें नवीं अनुसूची में डालकर न्यायिक समीक्षा से बाहर कर दिया गया। पहली बार न्यायपालिका ने हिम्मत की।केशवानंद भारती प्रकरण सर्वोच्च न्यायालय की तेरह सदस्यीय पूर्ण पीठ के समक्ष था। न्यायाधीशों की पीठ विचार कर रही थी कि संसद को संविधान संशोधन के असीम अधिकार प्राप्त हैं या नहीं? मुख्य प्रश्न यह था कि नैसर्गिक या प्राकृतिक न्याय संविधान से उपर हैं या नहीं। प्रश्न यह था कि यदि संसद संविधान संशोधन द्वारा मतदान स्थगित कर दे,अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता छीन ले तो क्या यह संभव है?कई वर्ष तक बहस चली। सुप्रीम कोर्ट के तेरह जजों में से छः ने संसद के पक्ष में फैसला दिया और सात ने संसद के संविधान संशोधन के असीम शब्द को अस्वीकार करके व्यवस्था दी कि संसद संविधान में उस सीमा तक ही संशोधन कर सकती है जिससे संविधान का मूल ढाचा प्रभावित न हो। इस तरह न्यायिक बहुमत ने प्राकृतिक न्याय को संवैधानिक सीमाओं से बाहर घोषित कर दिया।यह निर्णय सन् तिहत्तर में हुआ।यह निष्कर्ष तो हर सामान्य व्यक्ति भी तुरंत निकाल सकता है कि संसद व्यक्ति को प्राकृतिक न्याय के अधिकार से वंचित नहीं कर सकती किन्तु यह सोचना आश्चर्य जनक है कि न्यायपालिका के सर्वोच्च न्यायाधीशों को यह साधारण सा निर्णय करने में कई वर्ष लग गये। यह और भी आश्चर्य की बात है कि सर्वोच्च न्यायालय के तेरह में से छः न्यायाधीश कभी इस निष्कर्ष तक न पहुँच कर निर्णय के विरुद्ध मतदान किये तथा जिन न्यायाधीशों ने मूल ढा़चें का समर्थन किया उन्होंने या उनके बाद के किसी न्यायाधीश ने मूल ढांचे की कोई व्याख्या न करके उसे गुमनाम ही छोड़ दिया। इस बात की कल्पना करके ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं कि यदि तेरह में से एक जज दूसरे पक्ष में हो जाता तो भारत में आज लोकतंत्र की परिभाषा क्या होती ? क्या भारत का लोकतंत्र एक न्यायाधीश की सूझबूझ से बच गया?क्या भारत का लोकतंत्र इतने कमजोर धागे से लटका है कि एक व्यक्ति के इधर–उधर होते ही पूरे लोकतंत्र का भविष्य बदल सकता है? क्या भारत का लोकतंत्र एक सौं पच्चीस करोंड़ व्यक्तियों पर निर्भर न होकर कुछ मुट्ठी भर नेताओं या न्यायाधीशों की सूझबूझ या दया पर टिका है?भारत में लोकतंत्र की यह परिभाषा या भविष्य तो ऑखों के समझ अंधेरा छाने लायक है।फिर भी गनीमत है कि न्यायपालिका ने मरते हुए भारतीय लोकतंत्र को जीवन दान दे दिया।

इसके बाद भी तानाशाही की भूखी शेरनी इन्दिरा चुप नहीं रही। दो वर्ष बाद ही सन् उन्नीस सौं पचहत्तर में आपातकाल लगा। इन्दिरा जी ने न्यायपालिका में कुछ नये जजों को शामिल करके बहुमत बनाया और केशवानन्द भारती केश के निर्णय पर पुनर्विचार याचिका दायर कर दी। स्पष्ट था कि सुप्रीम कोर्ट की पूरी टीम में इन्दिरा के समर्थक जजों का हल्का बहुमत था। बाहर तो इन्दिरा की जय जयकार हो ही रही थीं। किन्तु अल्पमत न्यायाधीशों के प्रबल तर्कों के समक्ष कुछ जज तटस्थ हुए और याचिका अनिर्णीत ही बेमौत मर गयी। न्यायपालिका ने लोकतंत्र पर आये दूसरे खतरे से भी लोकतंत्र को बचा लिया। यह बात सही है कि न्यायपालिका का यह प्रयत्न पूरी तरह असंवैधानिक था किन्तु यह निर्णय पूरी तरह लोकतांत्रिक तथा न्यायसंगत होने से न्यायपालिका ने आत्मा की आवाज पर इतना बड़ा टकराव मोल लिया।

कुछ समय के बाद ही सर्वोच्च न्यायलय के मुख्य न्यायाधीश जस्टिस भगवती ने एक विलक्षण आदेश देते हुए न्यायालय को जनहित याचिकाऍं सुनने तथा निराकृत करने का अधिकार दे दिया।लोकतंत्र में विधायिका जनहित या न्याय को परिभाषित करती है,न्यायपालिका उक्त परिभाषा के आधार पर उचित अनुचित का निर्णय करती है तथा कार्यपालिका उक्त निर्णय को कार्यान्वित करती है। लोकतंत्र में विधायिका का काम **Law according to justice** तथा न्यायपालिका का **justice according to law** होता है। सच्चाई यह है कि लोकतंत्र में न्यायाधीशों को न न्याय करने का सर्वोच्च अधिकार है न न्याय की व्याख्या करने का । वे तो कानून के अनुसार फैसले कर सकते हैं। न्यायपालिका के दायित्वों में सबसे मुख्य तो यह है कि व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की संरक्षक होती हैं। यदि कोई भी अन्य, चाहे वह सरकार ही क्यों न हो, वह संसद ही क्यों न हो और चाहें वह भारतीय संविधान का कोई अंश ही क्यों न हो, यदि किसी व्यक्ति के मूल अधिकारों के विरुद्ध आचरण करती है तो न्यायपालिका का उक्त आचरण के विरुद्ध व्यक्ति को सुरक्षा देना दायित्व है। इस संबंध में उसे असीमित अधिकार प्राप्त है। किन्तु व्यक्ति के संवैधानिक अधिकारों की पूर्ति में न्यायपालिका संविधान या कानून के अनुसार करने के लिये वाह्य है। जहॉ तक व्यक्ति के सामाजिक अधिकारों का प्रश्न है तो ऐसे अधिकारों की पूर्ति में हस्तक्षेप का न सरकार को अधिकार है न ही न्यायालय को। इस तरह मूल अधिकारों को छोड़कर अन्य किसी भी मामले में न्यायालय को न्याय करने की स्वतंत्रता नहीं हैं। समाज न्यायालय को सम्मान देता है इसका यह अर्थ नहीं कि न्यायाधीश अपने को न्यायाधीश मानने लगें। वे तो एक फैसला करने वाले अधिकारी मात्र हैं। यह अलग बात है कि समाज उन्हें सम्मान देते हुए न्यायाधीश कहने लगे।

जनहित याचिकाऍं सुनने का अधिकार लेने के बाद न्यायपालिका, विधायिका की श्रेष्ठता को रोकने में सफल हो गई थी।लेकिन न्यायपालिका कहीं रुकी नहीं। उसने उच्चत्तम न्यायालय में न्यायाधीश नियुक्ति के लिये एक कालेजियम सिस्टम बनाकर सारे अधिकार अपने पास समेट लिये। विधायिका स्पष्ट देख रही थी कि यह पूरी तरह असंवैधानिक तथा अलोकतांत्रिक कार्य है किन्तु देश भर में आम तौर पर राजनेताओं के प्रति जितनी घृणा थी उसमें विधायिका की हिम्मत ही नहीं हुई कि वह न्यायिक आक्रमण के विरुद्ध कुछ बो़ल सके।

दो हजार चार के बाद मनमोहन सिंह एक प्रधानमंत्री के रुप में आये। मनमोहन सिंह का कार्यकाल भारत का सर्वश्रेष्ठ लोकतांत्रिक कार्यकाल कहा जा सकता है। श्री सिंह ने न्यायपालिका तथा कार्यपालिका को अधिकतम स्वतंत्रता दी। उन्होने हमेशा कोशिश भी की कि विधायिका किसी भी स्थिति में न्यायपालिका की सीमाऍं न तोड़े। न्यायपालिका ने कई बार प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति के अधिकारों का अतिक्रमण भी किया तो मनमोहन सिंह अन्दर –अन्दर दुखी होते हुए भी चुप रहे। ऐसे बढ़े मनोबल में हिम्मत करके सर्वोच्च न्यायालय ने एक और ऐतिहासिक फैसला दे दिया कि न्यायपालिका को यह अधिकार है कि वह संसद द्वारा अनुसूची नौ में डाले गये कानूनों की इस आधार पर समीक्षा कर सकती है कि उक्त कानून या संविधान संशोधन कहीं संविधान के मौलिक ढ़ॉचे के विपरीत न हो। इस तरह किया गया, न्यायिक निर्णय अन्तिम होगा । विदित हो कि अब तक के कानून के अनुसार

अनुसुची नौ में डाले गये कानूनों में न्यायालय विचार नहीं कर सकती है? इस प्रकार न्यायपालिका ने संसद सर्वोच्च की धारणा को समाप्त कर दिया।

जब से न्यायपालिका ने विधायिका की बदनामी का लाभ उठाकर कुछ ऐसे निर्णय लेने शुरु किये जो विधायिका की उच्श्रृंखलता पर लगाम लगा सकें तभी से न्यायपालिका का मनोबल बढ़ने लगा तथा उसका स्वाभिमान जगता गया। जब भी ऐसे प्रयत्न शुरु होते है तो सामान्य नागरिकों में ऐसे कदम की खूब प्रशंसा मिलती है। जब भूमि सुधार कानून इस सूची में डाले गये तब भी विधायिका को ऐसी ही प्रशंसा मिली थी और जब जनहित याचिकाएँ शुरु हुई तब भी न्यायपालिका को वैसी ही प्रशंसा मिली। उच्श्रृखल विधायिका पर न्यायिक सक्रियता को भारत के आम नागरिकों ने सर माथे पर उठा लिया। न्यायपालिका ने भी इस तरीके का भरपूर उपयोग किया। न्यायपालिका यह भूल गई कि ऐसी ही जन प्रशंसा ने विधायिका का उच्श्रृंखल होने का मार्ग प्रशस्त किया था और ऐसी प्रशंसा कही उसे भी उसी दिशा में न ले जावे। किन्तु न्यायपालिका लगातार सक्रिय होती चली गई, जो प्रवाह अब तक थमा नहीं है। न्यायपालिका ने अपनी सक्रियता के मद्देनजर कई बार कानून का सहारा लेकर कार्यपालिका की खिंचाई करनी शुरु कर दी तो कई बार न्याय का सहारा लेकर विधायिका पर भी उसका अंकुश लगता गया। जब न्याय और कानून आपस में टकराते हों तब ऐसी टकराहट को विधायिका ही दूर कर सकती है, न्यायपालिका नहीं । किन्तु न्यायपालिका ने अपनी सुविधा अनुसार दोंनो का उपयोग किया। जाहिरा शेख और जेसिका लाल हत्याकांड मामलों में न्यायालय ने स्थापित परंपरा से हटकर न्याय दिया। यदि न्यायालय परंपराओं से लिपटा रहता तो वास्तविक अपराधियों को दण्ड देना कठिन हो गया होता। किन्तु वही न्यायालय दिल्ली में तोड़फोड़ या सीलिंग मामले में कानून से ऐसा चिपट गया कि न्याय की भाषा ही भूल गया। न्यायपालिका को यह अच्छी तरह मालूम है कि दिल्ली के अनेक ऐसे घर न्यायिक सक्रियता के प्रभाव से या तो खंडहर बना दिये गये या सील हो गये जो नये मास्टर प्लान के आने के बाद बच सकते थे किन्तु न्यायपालिका ने किसी की एक नहीं सुनी। कल्पना करिये कि न्यायालय के प्रारंभिक आदेशों का उसी तरह पालन होता तब मास्टर प्लान के बाद उन सबका क्या होता?खूब हो हल्ला होने के बाद न्यायालय ने स्वयं भी कई संशोधन किये।मुझे महसूस हुआ कि जाहिरा शेख जेसिका लाल जैसे मामलों में न्यायपालिका ने सीधे न्याय देने की एक गलत परंपरा स्थापित की है जो भविष्य में न्याय और कानून के सम्बन्धों के लचीलेपन पर बुरा प्रभाव डाल सकती है। दिल्ली तोड़फोड़ कानून के पालन कराने में भी कुछ उसी तरह की अति सक्रियता घातक हो सकती है।

दूसरी ओर विधायिका का आचरण अब तक नहीं सुधरा। मनमोहन सिंह के कार्यकाल में न्यायपालिका ने राजनैतिक भ्रष्टाचार तथा राजनैतिक अपराधों पर नियंत्रण के लिये प्रशंसनीय पहल थी। किन्तु न्यायाधीश भी तो इसी समाज से आते है तथा व्यक्ति ही होते हैं। प्रशंसा कब सर्वोच्चता की भावना की दिशा में बढ़ जावे या स्वाभिमान कब अभिमान के रुप में बदल जावें यह कहना आसान नहीं होता। न्यायपालिका को यह भ्रम होने लगा कि न्यायपालिका सर्वोच्च है। वैसा ही भ्रम जैसा अब तक विधायिका को था तथा जो कुछ सीमा तक टूटा भी। न्यायालय सर्वोच्च के घमण्ड की शुरुआत उसी समय से मानी जा सकती है जब न्यायपालिका ने कालेजियम सिस्टम बनाकर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति से किसी अन्य के हस्तक्षेप से स्वयं को बाहर कर दिया। यह सच है कि राजनीति में भ्रष्टाचार न्यायपालिका की तुलना में बहुत ज्यादा है किन्तु यदि आपातकाल के बाद के सभी प्रधानमंत्रियों,राष्ट्रपतियों तथा सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों की इमानदारी की तुलना करें तो किसी एक समूह को ज्यादा इमानदार कहने में कठिनाई होती है। यह तुलना इसलिये भी संभव नहीं क्योंकि न्यायपालिका को ऐसी चर्चा को रोकने का एक कानूनी कवच प्राप्त है, राष्ट्रपति को ऐसा ही एक नैतिक कवच प्राप्त है किन्तु प्रधानमंत्री को कोई कवच प्राप्त है ही नहीं बल्कि उसके विरुद्ध विपक्ष सहित सभी इकाइयों को कुछ भी कहने का अधिकार है। इतने सुरक्षा कवच से ढके हुए आचरण के बाद भी प्रसिद्ध अधिवक्ता प्रशान्त भूषण ने जो कुछ बताया वह न्यायपालिका का एक बहुत विद्रूप चेहरा प्रस्तुत करती है।

न्यायपालिका अनेक अच्छे कार्य भी करती गई तथा समय पर अपनी सर्वोच्चता भी बढ़ाती गई। मनमोहन सिंह के कार्यकाल में न्यायपालिका ने अपनी सारी सीमाएँ तोड़ दी। न्यायपालिका ने कार्यपालिका तथा विधायिका का संतुलन बिगाड़ दिया। न्यायपालिका को जनहित को परिभाषित करने का अधिकार नहीं होता। यह अधिकार तो विधायिका का ही होता है। यह सही है कि विधायिका द्वारा संविधान संशोधन के अधिकार का दुरुपयोग रोकने के लिये न्यायालय ने हस्तक्षेप करके भले ही संविधान से हटकर कुछ किया किन्तु वास्तव में वह कार्य जनहित में था। किन्तु न्यायपालिका को जनहित परिभाषित करने में मजा आने लगे और वह भी विधायिका की तरह लोकप्रियता की लाइन पकड़ ले तो यह लोकतंत्र के लिये घातक होगा।आज समाज में लगातार अपराध बढ़ रहे हैं। नैतिक पतन भी बढ़ रहा है। अपराध रोकना, न्यायपालिका , कार्यपालिका तथा विधायिका का संयुक्त दायित्व है। न्यायपालिका अपनी दादागिरी के बल पर भले ही यह कह दे कि उसका दायित्व सिर्फ न्याय करना है न कि अपराध रोकना किन्तु लोकतंत्र में जब न्याय और व्यवस्था एक दूसरे के पूरक हैं तथा न तो न्यायपालिका को न्याय करने का एक छत्र अधिकार है न विधायिका को विधान बनाने का । दोनों के सामजस्य से ही अपराध रोके जा सकतें हैं, और यदि अपराध बढ़ रहें हैं, तो उसकी विफलता में दोनों की समान कमजोरी है। अपराधियों का दण्डित होना न्याय के साथ जुड़ा हुआ विषय है।

पण्डित नेहरु तथा डा0 भीमराव अम्बेडकर कोई विशेष अनुभवी तो थें नहीं न ही स्वतंत्रता की उठापटक में ऐसा कोई गम्भीर वातावरण था। सच्चाई यह है विकसित देशों के लोकतंत्र में न्याय की परिभाषा यह है कि चाहे सौं अपराधी भले ही छूट जावें किन्तु एक भी निरपराध दण्डित न हो जावे। दूसरी ओर साम्यवादी देशों की व्यवस्था यह है कि चाहे सौ निरपराध भले ही दण्डित हो जावें किन्तु एक भी अपराधी छूट न जावें। भारत एक अविकसित,गरीब देश था। उसे प्रारंभ में विकसित देशों के समान न्याय की मंहगी प्रणाली का अनुकरण नही करना चाहिये था अर्थात न्याय व्यवस्था का ऐसा संतुलन होगा कि न कोई निरपराध दण्डित हो न ही कोई अपराधी बच जाये । लेकिन हड़बडी में गड़बडी हो गई और न्याय लगातार व्यवस्था को कमजोर करता चला गया। यदि न्याय व्यवस्था पर एक बोझ बन जाये तो स्वाभाविक है कि व्यवस्था कमजोर होगी और परिणाम होगा अन्याय। यदि न्यायपालिका एक बार किसी एक जिले में इस बात का आत्मनिरीक्षण करे, कि जिले में होने वाले कुल अपराधों में से कितने प्रतिशत अपराध पुलिस तक जाते हैं,

कितने प्रतिशत न्यायलय तक पहुॅचते हैं तथा उनमें से कितने प्रतिशत अपराधी न्यायालय से निर्दोष सिद्ध हो जाते हैं। मेरे सर्वे के अनुसार सौं अपराधों में से पचीस तीस तो थाने तक ही अपराधियों के डर से नही पहुॅच पाते शेष में से लगभग पचास प्रतिशत न्यायालय तक पहूॅच पाते हैं और इन पचास में से भी पॉच दस ही दण्डित हो पाते हैं। शेष नब्बे विभिन्न कारणों से निर्दोष सिद्ध होते रहते हैं। इन नब्बे प्रतिशत का निर्दोष छूटना एक प्रकार का अन्याय है जो सरसठ वर्षो से लगातार समाज के साथ हो रहा है। न्यायपालिका ने आज तक यह कभी नहीं माना कि किसी अपराधी का निर्दोष छूटना अन्याय है तथा इस अन्याय में उसकी भी कोई भूमिका है। न्यायपालिका यह कहकर पल्ला झाड़ लेती है कि पुलिस अपराध सिद्ध ही नहीं कर सकी तो हम दण्ड कैसे दें किन्तु मैंने अनुभव किया कि अधिकांश न्यायाधीशों,जिनमें उच्चस्तरीय न्यायाधीश भी शामिल हैं,को यह तक जानकारी नहीं कि अपराध,गैरकानूनी तथा अनैतिक में क्या फर्क होता है। जो इतना भी नहीं समझते कि न्याय और व्यवस्था एक दूसरे के पूरक हैं तथा अपराधी का निर्दोष छूटना समाज के साथ अन्याय है भले ही उसमें गलती न्यायालय की हो या व्यवस्था की।कम से कम न्यायपालिका को अपनी प्राथमिकता तो समझनी ही चाहिये कि उसकी सर्वोच्च प्राथमिकता न्याय की रक्षा करना है,और यदि कानून न्याय में बाधक है तो उसे चाहिये कि वह विधायिका को ऐसे कानूनों को ठीक करने की सलाह दे।

मैनें लिखा है कि सफल न्याय को चार कसौटियों पर खरा उतरना चाहिये(1)समय सीमा(2)निष्पक्षता(3)पारदर्शिता(4)परिणाम मूलक। हम चारों पर विचार करें। समय सीमा की कसौटी पर तो वर्तमान न्याय प्रणाली को ऋणात्मक अंक देने चाहिये। गंभीर आपराधिक मुकदमें बीस तीस वर्ष तक खिंचते चले जाते हैं। ललित नारायण मिश्र हत्याकांड जनवरी पचहत्तर की घटना है। बयालिस वर्ष पूर्व उनकी हत्या हुई। पुलिस ने दो वर्ष बाद सन् सतहत्तर में चालान पेश किया। दो वर्ष बाद यह केश दिल्ली कोर्ट को ट्रान्सफर हुआ।दो हजार बारह से सिर्फ निर्णय के लिये सुरक्षित है। एक अपराधी ने एक सेशन जज पर जानलेवा हमला किया। हमलावर को केश में दस वर्ष की सजा हुई। अपराधी ने हाई कोर्ट में अपील की। अपील के निर्णय में हाई कोर्ट को करीब पचीस वर्ष लग गये। अपील की सुनवाई और निर्णय में सात दिन से ज्यादा समय नहीं लगना चाहिये। मेरे उपर एक व्यक्ति ने केश करने के लिये न्यायालय से अनुमति मॉगी। धर्मादा ट्रस्ट संबंधी केश था।न्यायालय ने बीस वर्ष बाद फैसला दिया कि केश चलाना नियम विरुद्ध है। प्रश्न उठता है कि न्यायालय क्या इतना ओवर लोडेड है या इस अधिक भार का कारण कुछ और ही है। न्यायालय का दायित्व आपराधिक मामलों में न्याय देना है। कानूनी उलंघन उसकी पहली प्राथमिकता नहीं हो सकती क्योंकि यह उसका दायित्व नहीं है। व्यक्ति को कानूनी अधिकार न ही मूल अधिकार हैं न ही संवैधानिक। संवैधानिक अधिकार के मामले न्यायालय की दूसरी तथा कानूनी मामले निपटाना तीसरी प्राथमिकता है।सरकार ने अपने किसी कम्रचारी का स्थानान्तर किया या उसका वेतन रोक दिया।न्यायालय का ऐसे मामले में हस्तक्षेप क्यों? कोई ओवर लोडेड न्यायालय अपना काम छोड़कर अनावश्यक कार्यों में टांग अड़ाता रहे तो गलती किसकी। मुझे याद है कि हमारे रामानुजगंज शहर का जिला शिक्षा अधिकारी का कार्यालय रामानुजगंज की जगह अम्बिकापुर में चल रहा था। सन् सतहत्तर में सरकार ने उसे रामानुजगंज जाने का आदेश दिया।कर्मचारी किसी न किसी बहाने से टालते गये। सन् बान्नवें में सरकार ने दबाव बनाया तो कर्मचारी संघ न्यायालय से स्थगन ले आया। स्थगन देने में न्यायालय ने बहुत जल्दी दिखाई किन्तु सुनवाई करने के लिये खाली समय ही नहीं मिला। दो हजार दस के आस पास शहर के नागरिकों ने चन्दा इकट्ठा करके वह स्थगन हटवाया तब कार्यालय रामानुजगंज आ सका।ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिसमें अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के चक्कर में न्यायालय कानूनी मामलों में भी हस्तक्षेप करता है।एक कहावत के अनुसार एक भिखारी को एक गोदाम में दो घंटे की घूट मिली कि वह जितना सामान उठा ले वह उसका। परन्तु एक बार उठाया हुआ सामान वह फेंक नहीं सकेगा। भिखारी ने लोहे का सामान ही काफी उठा लिया। आगे उसे चांदी दिखी तो लालच में पडक़र वह चांदी से ओवर लोड़ेड हो गया। अब हीरा उठाने की बारी थी। वह लालच छोड़ नहीं पाया और हीरा मोती उठाते– उठाते गिर कर मर गया। न्यायपालिका के अन्दर विधायिका के प्रति एक हीन भाव बन गया था।सन् तिहत्तर के बाद ऐसा अवसर मिला। उसने अपना हस्तक्षेप बढ़ाना शुरु किया। बढ़ाते– बढ़ाते आज ऐसी स्थिति आ गई है कि न्याय पर आम आदमी को विश्वास ही नहीं रहा है।

इस विलम्ब के लिये विधायिका ही सर्वप्रथम दोषी है। उसने अनावश्यक कानूनों की संख्या बढ़ा बढ़ाकर पुलिस और न्यायालय को ओवर लोड़ेड किया। एक सुविचारित व्यवस्था थी कि त्वरित न्याय के लिये सेशन के लिये ट्रायल होगा जिसका अर्थ है कि केश प्रस्तुत के शीघ्र बाद केश प्रारंभ होगा तथा उस केश को समाप्त होते तक दूसरा केश नहीं शुरु होगा।कल्पना थी कि सेशन ट्रायल केश एक माह में हो जायगा। पहले गंभीर आपराधिक मामले ही सेशन ट्रायल होते थे। बाद में नासमझ विधायिका ने दहेज,आदिवासी, हरिजन, गांजा, अफीम जैसे अनेक गैर कानूनी कार्यो को सेशन ट्रायल घोषित कर दिया। जिस गति से सेशन ट्रायल का भार बढ़ा उस गति से न्यायाधीश नहीं बढ़े। आबादी की वृद्धि भी एक कारण बनी। परिणाम हुआ कि त्वरित न्याय कोरी कल्पना ही बन गयी। अब सरकार त्वरित न्याय के लिये विषेश न्यायालय बना रही हैं। ये भी इसी तरह ओवर लोडेड होंगे तब अति विशिष्ट केश के लिये एक नई योजना बनेगी।

ऐसा नहीं है कि सिर्फ विधायिका ही न्यायालय को ओवर लोडेड कर रही हो। न्यायपालिका स्वयं भी अपना बोझ बढ़ाती रहती है। न्यायपालिका जनहित याचिकाएॅ सुनने के प्रति बहुत तत्पर रहती है जब कि यह उसका काम नहीं हैं। पूरे भारत में व्यक्ति को न्यायपालिका के माध्यम से न्याय दिलाने के प्रयास का एक फैशन सा चल पड़ा है। अनेक सामाजिक संस्थाएॅ सिर्फ इसी काम में व्यस्त रहती है।अनेक सामाजिक संस्थाओं का तो यह व्यवसाय ही बन गया है। जनहित याचिका के नाम पर इस प्रयास में और भी वृद्धि हुई है। प्रारंभ में तो लोगों को बहुत आनन्द आया क्योकि उन्हें न्यायालय से सीधा न्याय मिलने लगा। अनेक कार्य, जो व्यवस्था सुनने के लिये तैयार नहीं थी, वे आनन –फानन में सम्पन्न हो गये। किन्तु धीरे–धीरे दुष्परिणाम भी आने ही थे।

न्यायपालिका निर्वाचन के कार्यो में भी दखल देने को बहुत लालांयित रहती है। मुझे मालुम है कि किसी प्रदेश में स्थानीय संस्थाओं के नगर निगम,नगरपालिका,नगर पंचायत के चुनाव घोषित हुए। किसी एक शहर के वार्ड परिसीमन में कुछ अनियमितता थी। पूरे प्रदेश में आचार संहिता लगी हुई थी।चुनाव प्रकिृया शुरु होने के बाद भी न्यायपालिका ने पूरा चुनाव इस आधार पर रोक दिया कि

परिसीमन में त्रुटियॉ हैं। ऐसी त्रुटियॉ कानूनी मामला है। न्यायालय को ऐसे कार्यो से परहेज करना चाहिये। यदि किसी शहर में त्रुटि है तो सरकार को कहना चाहिये कि ऐसे क्षेत्रों की पहचान करके उन्हें रोकने के बाद चुनाव करा लें। यह किसी तरह भी ऐसा आपराधिक कार्य नहीं था जिसके लिये न्यायालय को ऐसा निर्णय लेना पड़े।

न्यायपालिका का सम्मान अब भय में बदल गया है। न्यायपालिका कन्टेम्ट का भय दिखाकर विधायिका और कार्यपालिका को तो डराकर रखती ही है साथ ही सामान्य चर्चा में भी लोग बहुत डरते हैं। पत्रकार, साहित्यकार अथवा मीडिया कर्मी तो न्यायपालिका के विषय में चर्चा करने में ही परहेज करते हैं। न्यायपालिका के लिये यह कोई आदर्श स्थिति नहीं। न्यायपालिका के पक्ष में सभी तर्क आम आदमी की जुबान पर रहते है। कुछ सम्मान के कारण तो कुछ भय वश भी। मुझे याद है कि एक न्यायाधीश की अपमानजनक टिप्पणियों से लोग बहुत दुखी रहते थे। पुलिस वाले तो रहते ही थे। अन्य अफसर भी उनके व्यवहार से दुखी थे। उस शहर के कुछ लोगों ने मिलकर जज को पीटने की योजना बनाई।जज को पता चला तो उसने पुलिस बुलाई। बड़ी मात्रा में पुलिस उनकी सुरक्षा में लगाई गई। जब भीड़ मारने पहुँची तो पुलिस वाले भी भीड़ की मद्द करने लगे। अन्य सभी बड़े अफसर बाहर की यात्रा बताकर सुरक्षा कवच बना लिये। जज साहब को काफी मार पड़ी। उच्च न्यायालय ने शहर से न्यायालय ही हटा लिया।पॉच वर्ष बाद न्यायालय पुनः खुला। न्यायाधीश पुलिस वालों के साथ न्यायालय में जितना कठोर व्यवहार करते हैं उससे ईमानदार पुलिस वाले तो बहुत आहत होते हैं। भ्रष्ट पुलिस के लोगों पर कोई असर नहीं होता। न्यायाधीश यह क्यों नहीं समझते कि न्याय में पुलिस न्यायालय की सहयोगी है। एक बार इलाहाबाद हाई कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश के व्यवहार से शुब्ध पुलिस वालों ने उनके घर में हुई चोंरी की जॉच पूरी तरह वैधानिक तरीके से की।इसका अर्थ है कि चोर पकड़ा ही नहीं जा सका। जज साहब ने कड़ाई करने की बात की तो पुलिस ने इन्कार कर दिया।

विगत के कुछ वर्षो में न्यायपालिका को अपनी सर्वोच्चता की ऐसी धुन सवार हुई, कि उसने राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री तक को सीधे आदेश देने शुरु कर दिये। न्यायपालिका ने फॉसी की सजा प्राप्त अपराधियों के क्षमा अधिकार पर एक सीमा लगा दी। उसने इसी धुन में बढ़ते हुए प्रधानमंत्री के लिये भी कुछ मामलों में निर्णय की अवधि तीन माह कर दी। मनमोहन सिंह और प्रणव दादा चुप रहे। प्रश्न उठता है कि प्रधानमंत्री द्वारा निर्णय करने की अधिकतम सीमा न्यायालय तय करेगा या कानून? राष्ट्रपति द्वारा किसी अपील का फैसला करने की सीमा क्या न्यायालय तय करेगा?न्यायालय किसी मामले का निर्णय कितने वर्ष में करेगा यह कौन तय करेगा?क्या न्यायपालिका ने अपनी भी कोई सीमा बनाई। न्यायालय ने किसी फॉसी की सजा योग्य अपराधी को अन्तिम निर्णय करने में बीस वर्ष लगा दिये और राष्ट्रपति ने क्षमा अपील का निर्णय दस वर्ष में किया तो न्यायालय इस पर प्रश्न उठाकर अपनी सीमाएँ तोड़ रहा है। सुप्रीम कोर्ट द्वारा फॉसी की सजा प्राप्त व्यक्ति को राष्ट्रपति के अनुमोदन के बाद फिर से सजा पर रोक लगाने का न्यायालयीन आदेश न्याय न होकर न्याय के साथ खिलवाड़ है। जिस मानवीय आधार पर आपने प्रश्न उठाया उसी के बाद आपने अर्थात् न्यायालय ने फॉसी को रोककर कई महिने बाद फैसला दिया तो क्या वह अमानवीय नहीं था? इस तरह बाल की खाल निकालकर अपनी सर्वोच्चता प्रमाणित करने की भावना न्याय के साथ खिलवाड़ है।

आमतौर पर कहा जाता है कि न्यायालयों में जजों की कमी होने से विलम्ब होता है। यह बात सहीं नहीं है। क्या पुलिस विभाग में पद खाली नहीं है। फिर एक बात और है कि न्यायालयों में आपके पास जजों की कमी है। तो आप अपना न्यायिक काम छोड़कर दूसरों के कार्य की समीक्षा क्यों करते हैं जो आपका काम नहीं।न्यायपालिका प्रायः रोज ही ऐसे कामों में दखल देती है जो उसका नहीं। आजकल तो यह एक फैशन बन गया है। गंगा की सफाई कब होगी तथा कैसे होगी, ,गुमे हुए बच्चे कितने दिनों में खोज लिये जायेंगे, उत्तराखंड़ में आई तबाही के लिये सरकार क्या कर रही है आदि सैंकड़ों उदाहरण हैं जिसमें न्यायपालिका अपनी सर्वोच्चता प्रमाणित करने के लिये हस्तक्षेप करती है। आजकल तो प्रायः प्रतिदिन ही सरकार को फटकार लगाई जाती है, ऐसी भाषा में जो अपने मातहत के लिये भी प्रयुक्त नहीं होती। हमारे न्यायाधीश पुलिस वालों को कोर्ट में खड़ा करके जैसी टिप्पणी करते हैं। यदि एक माह के लिये उन्ही जज को थानेदार बनाकर विवेचना का काम दें दे तो मैं आश्वस्त हूँ कि जज साहब का थानेदारी का रेकार्ड वर्तमान थानेदार की अपेक्षा कई गुना अधिक कमजोर होगा । न्यायपालिका को जनहित की विवेचना करने का अधिकार कहॉ से मिला?जनहित की विवेचना करने का अन्तिम अधिकार तो समाज का है। समाज के बाद वह विधायिका का है। प्रश्न उठता है कि यदि विधायिका गलती करेगी तो विधायिका को समाज पॉच वर्ष में बदल सकता है किन्तु यदि न्यायपालिका गलती करेगी तो उनकी समीक्षा कौन करेगा?व्यक्तिगत गलती के लिये तो महाभियोग होगा किन्तु नीतिगत भूलों की समीक्षा कौन करेगा?स्पष्ट है कि गंगा की सफाई करने में विधायिका और कार्यपालिका की लापरवाही के लिये न्यायपालिका दण्डित कर सकती है किन्तु न्यायपालिका समाज के हस्तक्षेप से बाहर है। उसे सब काम अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए। आप जजों की भारी कमी होते हुए भी अन्य कार्यों में हस्तक्षेप करते रहते हैं। यदि सरकार कुछ और जज बढ़ा दे तो क्या गारंटी है कि आप पिछड़े हुए न्यायिक कार्य को गतिशील कर देंगें। यदि आप और अधिक जनहित याचिकाएँ सुनना बढ़ा दिये तो जज बढ़ाने का क्या उपयोग हुआ। क्या यह संभव है कि न्यायालय एक जज को जनहित की व्याख्या करने दे और शेष जज न्यायिक कार्य करें तो भी कुछ संतुलन बन सकता है। विधायिका या कार्यपालिका को जनहित का पाठ पढाना न्यायालय का काम नहीं।

न्यायपालिका को तटस्थ होना चाहिये। इसका मतलब यह नहीं है कि न्यायपालिका को अपराधियों के पक्ष में झुक जाना चाहिये। यह सिद्धांत पूरी तरह गलत है कि जब तक कोई व्यक्ति अन्तिम रुप से न्यायालय द्वारा दोषी सिद्ध न हो जाय तब तक निरपराध है। जो व्यक्ति पुलिस आरोपी है किन्तु न्यायालय द्वारा निर्दोष सिद्ध नहीं है तब तक न दोषी है न निर्दोष बल्कि वह संदिग्ध अपराधी है। न्यायालय पुलिस को विश्वसनीय नहीं मानती यह ठीक है किन्तु पुलिस पूरी तरह अविश्वसनीय है यह भी गलत है। न्यायालय पुलिस और अपराधी के बीच तटस्थ है यह धारणा गलत है। अपराध सिद्धि का भार केवल पुलिस पर न डालकर दोनों तरफ डालना चाहिये। मुल्जिम जब न्यायालय में आता है तो सबसे पहले उसका विस्तृत बयान हों जिसमें पुलिस उससे जिरह करें। जिन बातों में फर्क हो उनकी ही गवाही हो। मेरे विचार में आरोंपी को भी स्वयं को निर्दोष सिद्ध करना चाहिये क्योंकि वह निर्दोष सिद्ध न

होकर आरोपी है। पुलिस विभाग को न्यायालय अपना सहायक माने न कि पक्षकार। यदि किसी थानेदारडांटना हो तो न्यायालय में अपराधी के सामने खुले आम डांटना अच्छी बात नहीं है।

कई बार न्यायालय बाल की खाल निकालने लग जाता है।जाहिरा शेख की गवाही एक ऐसा ही प्रकरण है। जाहिरा शेख ने न्यायालय में एक बयान दिया। कुछ माह बाद जाहिरा ने न्यायालय को सूचना दी कि उसने पहला बयान भय वश दिया था। न्यायालय ने उसका निवेदन स्वीकार करके किसी अन्य न्यायालय में उसकी गवाही की व्यवस्था कर दी। मेरे विचार से जब तक जाहिरा कुछ विशेष प्रमाण नहीं देती तब तक दुबारा गवाही या तो न लें या उसकी दुबारा गवाही के बाद उसे दो गवाही के कारण अमान्य कर दें। उसकी दुबारा गवाही हुई। बाद में वह फिर से पलट गई और उसकी तीसरी बार गवाही हुई। मेरे विचार से न्यायालय ने जो किया वह न्याय के अति उच्च आदर्श के लिये तो ठीक हो सकता है किन्तु ओवर लोडेड न्यायपालिका इस तरह बार–बार बयान बदलने वालों को इतना महत्व दें यह ठीक नहीं। मुझे भी पता है और न्यायालय को भी पता है कि जाहिरा दो प्रतिस्पर्धी एन0जी0ओ0 के प्रभाव में बार–बार बदल रही थी। ये पेशेवर सामाजिक ठेकेदार तो किसी निर्णय का वहीं समापन ही नहीं होने देते। भोपाल गैस दुर्घटना ऐसे ही पेशेवर सामाजिक संगठनों का व्यवसाय बन गई है। ये संगठन दुर्घटना के शिकार लोगों की कीमत पर अपना व्यवसाय चलाते हैं। बीच में न्यायपालिका और व्यवस्था बोझिल होती रहती है।

सुप्रीम कोर्ट के रिटायर्ड मुख्य न्यायाधीश श्री जे एस वर्मा जी ने कहा है कि भारत की सम्पूर्ण अव्यवस्था के लिये समाज दोषी है। समाज यदि ठीक हो जावे तो सब ठीक हो जायगा।समाज से निकलकर जो भी व्यक्ति व्ययवस्था में आता है उन सबको यही एक बात दिखती है कि सारा दोष समाज का ही है। श्री वर्मा जी कोई अकेले व्यक्ति नही है। जो भी उस संवैधानिक व्यवस्था का अन्न खा लेता है या खाता रहता है उसे मरते तक भीष्म पितामह के अतिरिक्त कोई भूमिका दिखती ही नही। ये लोग अन्त तक यह मानने के लिये तैयार ही नही है कि लोकतंत्र यदि जीवन पद्धति में न आकर शासन पद्धति में आया है तो उसे ठीक करने का लोक स्वराज्य के अतिरिक्त कोई अन्य तरीका ही नही है। ये जो बडे–बडे लोग है इन्हे किताबी ज्ञान भी है और संवैधानिक कानूनी ज्ञान भी ।समाज शास्त्र इन्होने न कभी पढ़ा न समझा। यही कारण है कि इनको हर बात में समाज ही दोषी दिखता है।यदि समाज को स्वयं ही ठीक होना होता तो फिर आप तीनो की आवश्यकता ही क्या थी। क्यों आप लोगो को इतना भारी भरकम वेतन देकर बोझ सहन किया जाता यदि समाज को स्वयं ही ठीक होना है तो आप क्यों उसे गुलाम बनाकर रखे है?वर्मा जी मुख्य न्यायाधीश के रुप में समाज को कानूनों में बांधने के कोई कम प्रयत्न तो किये नही होगे। न्यायपालिका ,विधायिका और कार्यपालिका नें लोकतंत्र रुपी अस्पताल का डाक्टर बनकर समाज का इलाज शुरु किया है। साठ वर्षों में मरीज का हाल बिगड़ रहा है। अब डाक्टर मरीज को ही दोषी बता रहा है जबकि मरीज दिन रात डाक्टर के आई सी यू में ही भर्ती है। जो लोग वर्तमान व्यवस्था का अन्न खाकर पूरी इमानदारी से लोकतंत्र का गुणगान कर रहें है ये सभी भीष्म पितामह द्रोणाचार्य आदि हमारा मनोबल तोड़कर हमें गुमराह करना चाहते है। इनके प्रचार से बचना चाहिये।

आदर्श स्थिति तो यह होगी कि व्यवस्था की क्षमता को देखकर न्याय की भूख पैदा की जाय। आप पहले व्यवस्था की क्षमता का आकलन करें। व्यवस्था की क्षमता का आकलन न्यायालय नहीं करता और अंधाधुंध न्याय की आवश्यकता को बढ़ाते जाता है। परिणाम होता है कि मॉग और पूर्ति के बीच भारी असंतुलन होता गया। कुछ वर्षों तक तो व्यवस्था ने न्यायपालिका का सम्मान किया और जब उसे लगा कि उसकी यह बीमारी है कि बिना क्षमता का आंकलन किये भूख बढ़ा रही है तो कार्यपालिका ने न्यायपालिका को गंभीरता से लेना बन्द कर दिया। पिछले पॉच वर्षों में न्यायालय ने बार–बार आदेश दिया, कि सड़ता हुआ अनाज गरीबों में निःशुल्क बॉट दिया जावें। मनमोहन सिंह सरकार चुप रही। पहली बात तो यह है कि यह न्यायालय का काम नहीं था। दूसरी बात यह है कि न्यायालय उक्त अनाज की सुरक्षा या डिस्पोजल तक कह सकता है। वैसे तो उसे हस्तक्षेप ही नहीं करना था। किन्तु मुफ्त बॉटने की बात कहना कितना उपयुक्त है?प्रश्न उठता है कि अनाज सड़ता रहे और सरकार न देखे तो क्या न्यायालय भी चुप रहकर देखता रहें? प्रश्न में दम है किन्तु प्रति प्रश्न यह है कि यदि न्यायालय अपना कार्य क्षेत्र बढ़ा –बढ़ा कर सरकारी बजट पर सफेद हाथी बन जावे तो इसकी चिंता कौन करेगा? सरकार यदि अपना काम ठीक से न करें तो न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है। परन्तु यदि न्यायालय अपना काम ठीक से न करे तब उसके कार्यों में हस्तक्षेप कौन और कैसे करेगा?किसी भी इकाई को अपने पास अधिकार केन्द्रीत करना तात्कालिक रुप से भले ही अच्छा हो, किन्तु दीर्घकालिक रुप से घातक है,। पहले यही गलती विधायिका कर रही थी और अब न्यायपालिका कर रही है।

आजकल न्यायपालिका में एक और गंभीर बीमारी घर कर गई है और वह है बहुचर्चित मामलों में त्वरित और विश्वसनीय न्याय।सारी दुनिया जानती है कि अपराधी निर्दोष सिद्ध होने के लिये तीन प्रयास करते हैं (1)गवाह को प्रभावित करना(2)पुलिस को प्रभावित करना(3)कोर्ट को प्रभावित करना। अपराधी तीनों में से किसी एक का सहारा लेकर ही छूटता है। मैंने स्वयं देखा है कि एक व्यक्ति ने एक प्रमुख व्यक्ति की हत्या करा दी। वह जेल में बन्द रहा। केश चलते समय ही उसने एक प्रमुख गवाह की भी हत्या करा दी। स्वाभाविक था कि दूसरी हत्या के बाद गवाह गवाही न दे। यदि कोई खड़ा भी हुआ तो तीसरी हत्या के बाद तो वह जीवन भर के लिये निर्दोष हो गया। मैंने तो सुना है कि अनेक हत्याओं के अपराधी गवाही के अभाव में छूट जाते हैं। दूसरी ओर न्यायालय कुछ बहुचर्चित मुकदमों को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर उसे दण्ड देती है। यदि आंशिक रुप से कानून से हटना भी पड़े तो न्यायालय वैसा करता है। न्यायपालिका इसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर अपराधियों को दण्डित करके ही दम लेती है। न्यायालय दण्ड दिलाने में अतिरिक्त रुप से सक्रियता दिखाता है। भय और प्रभाव से न्यायालय से निर्दोष छूट रहें अपराधियों की प्रतिदिन की संख्या दस बीस होगी। किन्तु न्यायपालिका ने प्रतिवर्ष एक दो बहुचर्चित मामलों को आगे करके हजारों गल्तियों पर पर्दा डालने का काम शुरु किया।आशाराम बापू और तरुण तेजपाल सरीखों को बन्द करके न्यायपालिका प्रसन्न है कि अब उसे पूरे समाज में खुब वाहवाही मिल रही है। क्या यह उचित है? न्यायिक प्रक्रिया में सुधार की अपेक्षा कुछ विशेष मामलों को न्यायिक टेस्ट बनाने की कोशिश कितनी

उचित हैं। मैंने स्वयं देखा है कि गवाही के अभाव में अनेक वास्तविक अपराधी छूट गये और छूट रहें हैं दूसरी ओर न्यायालय तलवार दम्पत्ति,बेस्ट बेकरी जैसे मामलों में न्याय देकर एक दो वर्षों के लिये विश्वसनीयता बढ़ाने में सफल हो गई है।

मैं एक केश जानता हूँ जो वास्तव में झूठा था किन्तु वह चला। दस वर्ष बाद पुलिस इस नतीजे तक पहुँची कि केश न्यायालय में प्रस्तुत करने लायक नहीं हैं किन्तु न्यायाधीश महोदय ने पुलिस को डॉट कर कहा कि चालान पेश करो। न्यायाधीश मेरे परिचित थे। उन्होने कहा कि मैं महिलाओं के प्रति अन्याय के प्रति बहुत संवेदन शील हूँ। केश उनके कोर्ट में कई वर्ष चला और आरोपी निर्दोष हुए। एक प्रश्न उठता है कि यदि पुलिस किसी केश को असत्य या अपूर्ण मानती है और न्यायालय उसे अपनी समीक्षा अनुसार प्रस्तुत कराता है तो स्पष्ट दिखता है कि न्यायाधीश को केश के मामले में कुछ व्यक्तिगत जानकारी है। ऐसे मामले उसी न्यायाधीश को नहीं देखना चाहिये। दूसरी बात यह है कि यदि ऐसा मामला फेल हुआ तो दोष किसका। मुझे पता है कि ऐसे मामलों में भी आलोचना पुलिस की ही होती है। तलवार दम्पत्ति का केश भी कुछ ऐसा ही हैं। किसी विशेष मामले में विशेष रुचि लेकर न्याय दिलाना कोई अच्छी परंपरा नहीं।

इसी माह अखबारों में समाचार छपा कि हरियाणा के किसी न्यायालय के ए0डी0 जे0 के उपर विभागीय जॉच चल रही थी । किसी धूर्त अधिवक्ता ने एक जाली आदेश बनाकर ए डी जे को दो माह के लिये छुट्टी पर भेज दिया तथा स्वयं उस कुर्सी पर बैठकर फैसले करने लगा। जब दो महिने बाद वास्तविक ए डी जे आये तब वह चार्ज देकर चला गया। इस बीच में उसने कई सौं लोगों को जमानते दे दी तथा कुछ निर्णय भी कर दिये और न्यायपालिका को कोई पता नहीं लगा,। बहुत दिनों बाद वह अधिवक्ता किसी कार चोरी के अपराध में पकड़ा गया तब पता चला कि उसने यह कारनामा किया है। उस व्यक्ति के उपर विभिन्न न्यायालयों में बाईस मुकदमें चल रहे थे जिनमें वह जमानत पर था। यह घटना तो अविश्वसनीय सरीखी लगती है। यदि यह सत्य है तो न्यायपालिका में भारी अव्यवस्था सिद्ध करती है। सबसे ज्यादा चिन्ता की बात यह है कि इतना गंभीर होने के बाद भी मिडिया एक समाचार प्रकाशित करके चुप हो गया । न किसी के द्वारा खंडन आया न ही पुष्टि। ऐसा लगा जैसे कि किसी तानाशाह के भय से सबकी जबान बन्द है अन्यथा यदि ऐसी घटना विधायिका या कार्यपालिका में घटी होती तो मीडिया तो महिनों उछालता ही न्यायपालिका भी उछालने में जरा भी पीछे नहीं रहती।

यह सामान्य सी बात है कि स्वार्थ पूर्वक किया गया अपराध तथा जनहित समझकर किया गया अपराध एक प्रकार का दण्डनीय नहीं हो सकता। किसी की भी हत्या करना अपराध है किन्तु सामाजिक मान्यताओं से डरकर उसके परिपालन में होने वाली हत्या तथा डकैती के निमित्त की जाने वाली हत्या एक समान नहीं हो सकती। अवैध सन्तान की हत्या, प्रेम विवाह करने वाले अपने बच्चों की हत्या, सती के लिये की गई हत्या जैसे अनेक अपराधियों की तुलना डकैती के लिये की गई हत्या के साथ नहीं होनी चाहिये।स्वाभाविक है कि सामाजिक नियम परिपालन में किये गये अपराधों की अपेक्षा बुरी नीयत से किये गये अपराधों का दण्ड बहुत ज्यादा होना चाहिए किन्तु दिखता है कि न्यायालय सामाजिक बुराइयों के कारण बिना नीयत का आंकलन किये दोनों अपराधों में भेद नहीं करती। कभी–कभी तो न्यायालय फर्जी मुठभेड़ में अपराधी को मारने वाले पुलिस कर्मी या झूठी शान के लिये हत्या करने वाले मॉ बाप या सामाजिक कार्यकर्ता के प्रति अपराधी से भी ज्यादा कठोर दण्ड देती है। मेरे विचार में अपराधी की नीयत भी अवश्य देखना चाहिये।

सुरक्षा और न्याय न्यायपालिका तथा पुलिस का संयुक्त दायित्व है किसी एक का नहीं। अपराधी को दण्ड मिलना प्राकृतिक न्याय है और न्यायपालिका तथा पुलिस उक्त दण्ड की लोकतांत्रिक प्रक्रिया। यदि अपराधी दण्डित नहीं हुआ तो यह न्यायालय तथा पुलिस की असफलता है। यदि कोई अपराधी मृत्यु दण्ड योग्य है और उसे पुलिस बिना न्यायालय में प्रस्तुत किये ही गोली मार दे तो पुलिस द्वारा गोली मारना एक गैर कानूनी कार्य है,अपराध नहीं। आमतौर पर गवाही के अथवा किन्ही और साक्ष्य के अभाव में कोई अपराधी बार–बार अपराध करता है तो पुलिस उसे बिना न्यायालय में पेश किये ही दण्ड दे देती है । पंजाब में अनेक आतंकियों को, छत्तीसगढ़ के सरगुजा जिले में नक्सलवादियों को, गुजरात में सोहराबुद्दीन इशरत जहॉ मामले सरीखे अनेक उदाहरण हैं जिनमें पुलिस ने योजना बनाकर ऐसे अपराधियों की हत्या की। ऐसी हत्या करना गैर कानूनी होते हुये भी न्याय संगत थी। न्याय और कानून को एक साथ खड़ा दिखना चाहिये। किन्तु यदि स्पष्ट दिखे कि न्याय और कानून अलग–अलग खड़े हैं तो न्यायपालिका न्याय का साथ छोड़कर कानून के साथ खड़ी दिखती है जबकि समाज न्याय के साथ।जिस पंजाब में उग्रवादी सिखों की हत्या हुई,सरगुजा में जिन पुलिस वालों ने नक्सलियों को पकड़ –पकड़ कर मारा उन सबको समाज में आजतक पूजनीय माना जाता है। सोहराबुद्दीन इशरत जहॉ की हत्या करने वाले जेलों में बन्द है किन्तु समाज उन्हें सम्मान देता है। नरेन्द्र मोदी का ऐसी गैरकानूनी हत्याओं में हाथ होने की अफवाह भी मोदी को प्रधानमंत्री बनाने में सहायक हुई। यदि कानून न्याय में बाधक है तो समाज न्याय के साथ खडा होता है, पुलिस कभी न्याय और कभी कानून के साथ दिखती है और न्यायपालिका ऐसे अवसर पर हमेशा ही कानून के साथ दिखती है,कभी न्याय के साथ नहीं दिखती। न्याय पालिका कानून के साथ खड़ी होने के लिये वाध्य है किन्तु न्यायालय न्याय और कानून के बीच कानून के पक्ष में विशेष रुचि लेने के लिये वाध्य नहीं है। न्यायपालिका ऐसे मामलों में विशेष रुचि लेकर सू मोटो मुकदमें खडा करती है जो एक प्रकार का कानून सम्मत अन्याय है।

किसी व्यक्ति की खराब नीयत से जानबूझकर की गई हत्या को तीन सौं दो में माना जाता है और अच्छी से नीयत से किये जा रहें कार्य में भूल वश अकस्मात हत्या हो जाय तो तीन सौं चार होता है। किसी पुलिस वाले ने किसी निर्दोष को चोरी पकड़ने की नीयत से पीटा और वह मर गया। यदि यह सिद्ध हो जाये कि पीटने वाला किसी व्यक्तिगत कारण से घूस के लिये या किसी को लाभ पहुँचाने के लिये वैसा करे तो अपराध है अन्यथा बिना व्यक्तिगत कारण के ऐसा करने वाला पुलिस वाला हत्या का अपराधी कैसे हो सकता हैं? मैं आज तक नहीं समझा कि ऐसे लोगों के साथ ऐसा वर्ताव क्यों होता है। यदि किसी पुलिस वाले ने अपराध किया है तो उसे अपराध का दण्ड होगा और उसने गलती की है तो उसे गलती का दण्ड होगा न कि अपराध का। न्यायपालिका पुलिस द्वारा की गई गलती को भी आमतौर पर अपराध मानकर ही दण्ड देती है। जो ठीक नहीं।

अनेक मामले ऐसे होते हैं जिसमें भिन्न–भिन्न न्यायाधीश बिल्कुल विपरीत रुख अपनाते हैं। एक मामला है विनायक सेन का। बहुचर्चित केश है। कुछ धाराओं के अर्न्तगत विनायक सेन को गिरफ्तार करके मुकदमा चला। विनायक सेन ने कई बार सर्वोच्च न्यायालय में जमानत की दरखास्त लगाई किन्तु न्यायालय ने यह कहकर जनामत नही दी कि अपराध बहुत गंभीर होने से जमानत उचित नहीं। दो वर्ष बाद एक न्यायाधीश ने यह कहकर जमानत दी कि विचाराधीन केश में दो वर्ष जेल में रहना पर्याप्त दिखता है अतः जनामत हो गई। मामला कोर्ट में चला और सभी अपराध प्रमाणित मानकर उन्हें दस वर्ष की जेल हुई। हाई कोर्ट के बाद सुप्रीम कोर्ट में जमानत की दरखास्त लगी। पहली ही सुनवाई में सुप्रीम कोर्ट ने जमानत भी दी और केश के गुण दोष पर टिप्पणी कर दी। विनायक सेन केश के विषय में विश्व के अनेक देशों की पक्ष विपक्ष में रुचि थी। भारत में भी दो वर्गो के प्रमुख लोगों में धारणा बंटी थी। सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश भले ही बदल जावें किन्तु निर्णय कभी किसी एक पक्ष में स्पष्ट रुप से झुके हुए नहीं दिखते। विनायक सेन केश के गुण दोष पर मैं कोई चर्चा नहीं करता क्यों कि न तो मैं यथार्थ जानता हूँ न ही इससे मेरी कोई रुचि है। मैं तो सिर्फ इतना ही नहीं समझ पाया कि जिन धाराओं तथा जिन साक्ष्यों को ट्रायल के समय सुनकर सुप्रीम कोर्ट ने दो वर्ष तक विनायक सेन को जेल में रखा उसी केश में उसी व्यक्ति को उन्हीं धाराओं में दोष सिद्ध होकर दण्डित होने के बाद सुप्रीम कोर्ट ने बेल के साथ टिप्पणी करना क्यों उचित समझा?या तो पूर्व के न्यायाधीश किसी विशेष विचारधारा से प्रभावित थे या बाद के। कोई न कोई तो अवश्य प्रभावित था।

मैं रामानुजगंज में था और फुड इन्सपेक्टर से मेरे अच्छे सम्बन्ध थे। इन्सपेक्टर मेरी दुकान में आकर घी का सेम्पल लेने का नाटक करता है। मुझे कहा गया कि कोई विश्वसनीय घी का नमूना दे दो। मैने एक स्थानीय महतो का बिल्कुल शुद्ध घी बिल्कुल तपा छानकर नमूना दे दिया और नमूना पास न होकर स्तर हीन सिद्ध हो गया। पता करने पर बताया गया कि घी की शुद्धता का स्तर हरियाणा क्षेत्र के आधार पर हैं। छत्तीसगढ़ का घी उस स्तर से नीचे होता है। वकीलों ने मुझे बताया कि सजा निश्चित है। मैने इन्सपेक्टर से मिलकर दूसरा नमूना भरकर अपील करके जॉच करवाई तब बचा। मेरा लिखने का आशय यह है कि अभी न्यायालय ने दूध की मिलावटपर सरकार से जवाब मॉगा है। मिलावट और मिश्रण भिन्न–भिन्न भी हैं और न्यायालय को अपना काम अधूरा छोड़कर सरकार के काम में हस्तक्षेप करना भी नहीं चाहियें। मैं नहीं कहता कि न्यायालय को ऐसा करने का अधिकार नहीं किन्तु अपना काम अधूरा छोड़कर दूध की मिलावट रोकना न्यायालय की सर्वोच्च प्राथमिकता नहीं है।

मैं रामानुजगंज में था। करीब पचीस वर्ष पूर्व की घटना है कि झारखंड के रंका के पास बस यात्रा कर रहे मेरे मित्र को डाकुओं ने लूट लिया। रंका का थानेदार मेरा मित्र था।मैनें अपने मित्र थानेदार से कहॉ कि हम रामानुजगंज के व्यापारी सुरक्षा के लिये आपकी मदद भी करते है तो आप डकैतों को पकड़ क्यों नहीं रहे। थानेदार ने कहा कि अपराधियों को आप लोगो के साथ ऐसा नहीं करना चाहिये था। आप भूल जाइये। मेरे दबाव देने पर थानेदार ने कहा कि डकैतों को पकड़ना कठिन नहीं किन्तु क्या जिनका माल लूटा गया वे पहचान करेंगे?क्या वे गवाही देंगे। मैंने अपने मित्र से पूछा तो उसने बताया कि ये तो पेशेवर अपराधी हैं। इन्हें पेशेवर वकील मिल जायेंगे पेशेवर नेता भी सहायता कर सकते हैं, न्यायाधीश भी झुक सकता हैं,अपराधी सात दिन में बाहर आ जायेगे तो हमारी जानमाल की सुरक्षा की गारंटी आपकी है या थानेदार की। मैंने गारंटी से इन्कार किया और थानेदार ने कहा कि मैं कैसे गारंटी लूँ। मैं आज यहॉ कल वहॉ। गवाह ने गवाही देने से इन्कार किया तो थानेदार ने स्पष्ट किया कि मैं शिकार करु और वकील, नेता, जज पेट भरें।ऐंसी मूर्खता मैं क्यों करु। संक्षिप्त में पुनः प्रश्न करने पर थानेदार ने कहा कि जिस दिन आप आश्वस्त हो जायेगें कि गवाह निर्भय होकर गवाही देगा, वकील किसी सीमा रेखा का पालन करेगा,नेता अपराधियों की मदद नहीं करेगा तथा जज भी इमानदारी से न्याय करेगा तो आपका यह थानेदार भी पूरी तरह इमानदार हो जायगा। मैं निरुत्तर था और आज तक मेरे पास उत्तर नहीं।

प्रश्न उठता है कि अपराधियों में भय का घटना तथा शेष समाज में भय के बढ़ने के वातावरण में न्यायपालिका दोषी है या नहीं? और है तो कितनी। पुलिस ने बाबा रामपाल को गिरफ्तार करके मुकदमा चलाया। न्यायालय से निर्दोष छूट गया। फिर दुबारा उसने बड़ा अपराध किया। एक वकील बाइस बार न्यायालय से जमानत पर छूटता रहा। तेइसवीं बार उसने नकली जज बनकर फैसले कर दिये। जज पर आक्रमण करने वाला अपराधी दस वर्ष की सजा पाकर भी बीस वर्ष स्वतंत्र घूमता रहा। ललित नारायण मिश्र के अपराधी खुले आम घूम–घूम कर दण्ड या मुक्ति की प्रतीक्षा इस तरह कर रहे है जैसे कि न्यायालय उसकी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही हो। इस सारी अव्यवस्था में न्यायपालिका कितनी सहयोगी है? क्या इन सबमें व्यवस्था के तीनों अंग दोषी नहीं। न्यायिक दादागिरी के भय से यदि समाज न्यायपालिका से प्रश्न नहीं कर रहा तो क्या हम लोग भी चुप हो जावें? लोकतंत्र के तीन स्तंभ एक दूसरे के सहयोगी हैं तो क्या यह दिखता है कि न्यायपालिका अपनी भूमिका ठीक ढंग से निभा रही है, कार्यपालिका विधायिका के प्रति भी उत्तरदायी है, तथा न्यायपालिका के प्रति भी। विधायिका जनता के प्रति भी उत्तरदायी है और न्यायपालिका के प्रति भी। परन्तु न्यायपालिका किसके प्रति उत्तरदायी है?(1)विधायिका (2)कार्यपालिका(3) जनता। यदि हम कहें कि न्यायपालिका संविधान के प्रति उत्तरदायी है तो विधायिका और कार्यपालिका भी तो न्यायपालिका के समान ही है। किसी में उंच नीच तो संविधान सम्मत नहीं है। फिर यदि न्यायपालिका संविधान के प्रति उत्तरदायी है तो उसे संविधान की धाराओं की व्याख्या करने का अधिकार क्यों? स्पष्ट है कि जो इकाई संविधान के अन्तर्गत काम करने के लिये वाध्य है उसे संविधान की व्याख्या या समीक्षा करने के स्वतंत्र और असीमित अधिकार नहीं हो सकते।

स्पष्ट है कि क्रिया के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है। स्वतंत्रता के तत्काल बाद से ही नेहरु आदि लोकतांत्रिक तानाशाहों ने न्यायपालिका को लगातार कमजोर किया जो प्रक्रिया सन् दो हजार तक जारी रही। ऐसे समय में न्यायपालिका ने बहुत हिम्मत करके विधायिका को नियंत्रित करने का काम किया। मुझे स्वयं अनुभव है कि उन्नीस सौ छियानवें में दिग्विजय सिंह जी के कहने पर म0 प्र0 सरकार ने मुझे नक्सलवादी घोषित करके मेरे परिवार तथा मित्रों तक पर ऐतिहासिक अत्याचार किये। न्यायपालिका ने निडर होकर हमें न्याय और सुरक्षा दी। सन् दो हजार तक न्यायपालिका विधायिका को नियंत्रित करने के लिये जो भी संवैधानिक या असंवैधानिक

कार्य करती थी उसे आम जनता का पूरा–पूरा समर्थन था। किन्तु दो हजार के बाद न्यायपालिका धीरे–धीरे स्वयं को ही सर्वोच्च मानने लगी। न्यायपालिका का कार्य समाज में भी साफ –साफ दिखने लगा और इस जनभावना का ही लाभ उठा कर विधायिका ने न्यायपालिका के पंख कतरने की गंभीर शुरुआत की। जब विधायिका ने न्यायाधीश नियुक्ति मामले में न्यायिक सर्वोच्चता पर अंकुश लगाया तो न्यायपालिका के बुरा लगने के बाद भी विधायिका पर कोई असर नहीं पड़ा क्योंकि चाहे वैधानिक हो या अवैधानिक किन्तु न्यायपालिका जन समर्थन खो चुकी थी।भय मुक्त समाज बने यह आवश्यक है। सरकार का भय दूर होना हमारी दूसरी प्राथमिकता है तथा अपराधियों से भय मुक्ति पहली। इसके लिये न्यायपालिका विधायिका तथा कार्यपालिका के बीच सम्बंधऔर समन्वय होना चाहिये। इस सम्बंध की शुरुआत जिला स्तर से हो। किसी जिले के एस0 पी0 कलेक्टर और जिला न्यायाधीश सर्व सम्मति से तय करें कि जिले में अपराधियों के भय से गवाह गवाही देने में या पीड़ित रिर्पोट करने में डर रहें हैं तो तीनो गुप्त रुप से बैठकर उक्त जिले को विशेष क्षेत्र घोषित कर सकते हैं।उस समय गुप्तचर पुलिस कुछ विशेष मामलों में गुप्तचर न्यायालय में गुप्त मुकदमा प्रस्तुत कर सकती है।जिसकी गुप्त जॉच गुप्तचर न्यायालय करके अपराधी को दण्ड घोषित कर सकता है। अपराधी गुप्तचर उच्च न्यायालय में अपील कर सकता है जिसकी जॉच भी गुप्तचर कोर्ट ही करके फैसला देगा। इस तरह जिले में एक दो माह में ही व्यवस्था सशक्त हो सकती है।यह कार्य तो सशक्त व्यवस्था के लिये है।

स्पष्ट है कि जब भी विधायिका में किसी दल का स्पष्ट बहुमत हो तथा प्रशासक तानाशाही प्रवृत्ति का हो तो उस समय विधायिका सर्वोच्च बनने का प्रयास करती है। यदि उस कालखंड में कोई शासक जनहित के काम करके लोकप्रिय हो जाय तब यह खतरा ज्यादा बढ़ जाता है। पंडित नेहरु जनहित के कार्य करके लोकप्रिय होते गये तो उस समय सशक्त न्यायपालिका की जरुरत थी जो विधायिका की तानाशाही को रोक सके। बाद के वर्षों में विधायिका परिवार हित या भ्रष्टाचार का माध्यम अपनाकर जनहित से दूर होती गई। स्पष्ट है कि दो हजार चौदह तक विधायिका में कमजोर संबिद सरकारें थी, तथा न्यायपालिका को जनहित के कार्य करके विधायी भ्रष्टाचार में हस्तक्षेप आवश्यक था। अब भारत में भाजपा की एक मजबूत सरकार है। यह सरकार लगातार जनहित के काम करके मजबूत होते जायगी।इस सरकार को लोकप्रियता के परिणाम स्वरुप शक्ति मिलना तानाशाही की राह में जा सकता है। इस समय न्यायपालिका की विशेष भूमिका होगी।(1)जनहित के कार्यो में विधायिका और कार्यपालिका के साथ समन्वय। दूसरा विधायिका के अधिक सशक्त होने की स्थिति में कार्यपालिका से मिलकर विधायिका की संभावित स्वेच्छाचारिता पर अंकुश। आवश्यक है कि विधायिका को जनहित के कार्यों में हस्तक्षेप करके लोकप्रियता के लोभ से बचना होगा। साथ ही पुलिस अफसरों अथवा प्रशासनिक अफसरों के साथ भी संबंध सुधारने होंगे क्योंकि अब भारत में कार्यपालिका की तानाशाही का कोई खतरा नहीं हैं। यदि कोई खतरा संभावित है तो वह विधायिका की तानाशाही का ही हो सकता है जो अभी तो स्पष्ट नहीं है किन्तु अगले कुछ वर्षों में संभावित है। ऐसे खतरें से न्यायपालिका ही समाज की सहायता कर सकती है। न्यायाधीश किस सीमा तक ऐसा कर पाते हैं यह तो समय बतायेगा। वर्तमान स्थिति में तो संसद सर्वोच्च या न्यायपालिका इस कम्पीटीशन में समाज लगातार पिस रहा है जो कोई अच्छी बात नहीं है। इस पक्ष में मेरे कुछ सुझाव भी हैं।

(1)अपराध, गैरकानूनी तथा अनैतिक की अलग–अलग पहचान बनानी होगी। तीनों को एक कर देने से भूसे के ढेर में सुई के समान अपराध छिप जाते है। तीनों एक हो जाने से पुलिस या न्यायालय भ्रम में पड़ जाते है।

(2)वर्तमान समय में पुलिस और न्यायालय पर होने वाला खर्च कुल केन्द्र प्रदेश के बजट का एक से दो प्रतिशत तक ही सीमित होता है जबकि शिक्षा जैसे कम महत्व के कार्य पर छः से सात प्रतिशत तक। शिक्षा स्वास्थ सरकार का दायित्व न होकर स्वैच्छिक कर्तव्य होता है जबकि सूरक्षा और न्याय सरकार का स्वैच्छिक कर्तव्य न होकर दायित्व होता है। एक तरफ तो सरकार पुलिस और न्यायालय को कम बजट देकर महत्व को कम करती है दूसरी ओर पुलिस और न्यायालय के उपर गैर आपराधिक,गैर कानूनी कार्यो का बोझ डालकर उसकी गति को और ज्यादा प्रभावित करती है। जुआ,गांजा,शराब,बाल मजदूरी, दहेज,महिला उत्पीड़न जैसे बेमतलब के कानूनों का बोझ बेचारे पुलिस और न्यायालय को झेलने पड़ते है। मेरे विचार में पुलिस और न्यायालय को अपराध नियंत्रण के कार्य तक सीमित कर दिया जावें। जब समाज में अपराधों का प्रतिशत घटकर बहुत कम हो जावे तब उन्हें और कार्य दे सकते है। तब तक अन्य सभी गैर कानूनी कार्यो की रोकथाम के लिये या तो अलग टीम बने या अभी इन्हें समाज को सौंप दें।

(3)संवेदनशील अपराधों में निर्दोषता सिद्ध करने का भार अपराधी पर डाला जावे।

(4)व्यवस्था से जुड़े लोगों को छोड़कर अन्य लोगों के शस्त्र रखने पर पूरा प्रतिबंध हो।

(5)अपराध होने पर पीड़ित परिवार को आकर्षक मुआवजा दिया जावे।

(6)गैर कानूनी या अनैतिक कार्य करने वालों को जेल में विशेष स्थिति में ही रखा जावे। ऐसा करते ही नब्बे प्रतिशत जेलें खाली हो जावेगी।छत्तीसगढ़ सरकार ने कुछ गैर कानूनी कार्यों की सूची बनाकर उनके मुकदमें समाप्त करने की अच्छी पहल की है। इस प्रयास को और ज्यादा विस्तार दिया जावे।

(7)कुछ विशेष अपराध ग्रस्त जिलों में गुप्त मुकदमा प्रणाली शुरु की जावे। इस प्रणाली के बाद अपराध बहुत रुक जावेंगे।

(8)पेशेवर मानवाधिकार प्रेमियों को निरुत्साहित किया जाये।

(9)यदि आवश्यक हो तो खुली फॉसी तक का यदा–कदा उपयोग किया जाये। दण्ड की मात्रा तथा उसका तरीका समाज में अपराधियों के मन में घटते बढ़ते भय की तुलना में किया जाये।

(10)खुफिया विभाग को कई गुना ज्यादा प्रभावकारी तथा शक्तिशाली बनाया जाये।

(11)संविधान संशोधन के लिये वर्तमान संसद के समान ही एक अलग लोकसंसद बना दी जाये जो समाज के द्वारा ही चुनी जाये किन्तु न्यायपालिका विधायिका तथा कार्यपालिका के आन्तरिक कार्यो में उसकी कोई भूमिका न हो।

(12)या तो भारत में राष्ट्रपतीय प्रणाली लागू कर दी जाये अथवा विधायिका और कार्यपालिका को विल्कुल अलग–अलग कर दिया जाये। इसका अर्थ हुआ कि मंत्रिमंडल या तो विधायिका का भाग होगा या कार्यपालिका का। दोनों का नही।

मैंने अपने विचार स्पष्ट रुप से रखते हुए भी संतुलन बनाने का प्रयास किया है। यदि मेरे लेखन से किसी को कोई कष्ट होगा या कोई बात असत्य होगी तो मैं इंगित करने पर क्षमा प्रार्थना के साथ संशोधन करने का वचन देता हूँ।

बजरंग मुनि